सूर्यप्रज्ञप्ति-चन्द्रप्रज्ञप्ति : एक विवेचन

डॉ. छगनलाल शास्त्री

सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति नाम से दो आगम हैं, किन्तु इनकी विषयवस्तु एवं पाठ लगभग समान ही हैं। अत: इस संबंध में विद्वज्जन ऊहापोह करते हैं कि आगमों के दो नाम होने पर भी विषयवस्तु एक किस प्रकार है? प्रोफेसर डॉ. छगनलाल शास्त्री ने अपने इस आलेख में इस बिन्दु को उठाया है एवं समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ये दोनों आगम ग्रह, तारा, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि के साथ ज्योतिष्क गणित पर भी प्रकाश डालते हैं। इन आगमों का प्रतिपादन आधुनिक खगोल-विज्ञान से मेल नहीं खाता है, तथापि इससे आगमों में निहित खगोलविज्ञान का महत्त्व कम नहीं होता है।– **सम्पादक**

सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति– ये दोनों आगम उपांगों के अन्तर्गत गृहीत हैं। अत: इन पर चर्चा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि अर्द्धमागधी जैन आगमों से अंग एवं उपांग मूलक विभाजन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाए।

विद्वानों द्वारा श्रुत–पुरुष की कल्पना की गई। जैसे किसी पुरुष का शरीर अनेक अंगों का समवाय है, उसी की भाँति श्रुत पुरुष के भी अंग कल्पित किये गये। कहा गया–

"श्रुत पुरुष के बारह अंग होते हैं– दो चरण, दो जंघाएँ, दो ऊरु, दो गात्र–शरीर के आगे का भाग तथा पीछे का भाग, दो भुजाएँ, गर्दन व मस्तक यों कुल मिलाकर २+२+२+२+२+१+१=१२ बारह अंग होते हैं। इनमें– श्रुत पुरुष के अंगों में जो प्रविष्ट या सन्निविष्ट हैं, विद्यमान हैं वे आगम श्रुत पुरुष के अंग रूप में अभिहित हुए हैं, अंग आगम हैं।"[१]

इस व्याख्या के अनुसार निम्नांकित बारह आगम श्रुत-पुरुष के अंग हैं। इनके कारण आगम वाङ्मय द्वादशांगी कहा जाता है–

१. आयारंग (आचारांग) २. सूयगडंग (सूत्रकृतांग) ३. ठाणांग (स्थानांग) ४. समवायांग ५. वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति अथवा भगवती) ६. णायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा अथवा ज्ञातृधर्मकथा) ७. उवासगदसाओ (उपासकदशा) ८. अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा) ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिक दशा) १०. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरण) ११. विवागसुय (विपाक श्रुत) तथा १२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)।

उपांग

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिन आगमों के संदर्भ में श्रोताओं का, पाठकों का, तीर्थंकर प्ररूपित धर्म देशना के साथ गणधर ग्रथित शाब्दिक माध्यम द्वारा सीधा संबंध बनता है, वे अंगप्रविष्ट कहलाते हैं। उनके अतिरिक्त आगम अंग बाह्य कहे जाते हैं। यद्यपि अंगबाह्यों में वर्णित तथ्य अंगों के अनुरूप होते हैं, विरुद्ध नहीं होते, किन्तु प्रवाह परंपरया वे तीर्थंकर भाषित से सीधे सम्बद्ध नहीं हैं, स्थविरकृत हैं। इन अंगबाह्यों में बारह ऐसे हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनकी उपांग संज्ञा है। वे निम्नांकित हैं:—

१. उववाइय (औपपातिक) २. रायपसेणीय (राजप्रश्नीय) ३. जीवाजीवाभिगम ४. पन्नवणा (प्रज्ञापना) ५. जम्बूद्दीवपन्नत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति) ६. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति) ७. सूरियपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति) ८. निरयावलिया (निरयावलिका) ९. कप्पवडंसिया (कल्पावतंसिका) १०. पुप्फिया (पुष्पिका) ११. पुप्फचूला (पुष्पचूला) तथा १२. वण्हिदसा (वृष्णिदशा)।

प्रत्येक अंग का एक उपांग होता है। अंग और उपांग में आनुरूप्य हो, यह वांछनीय है। इसके अनुसार अंग-आगमों तथा उपांग-आगमों में विषय सादृश्य होना चाहिए।

उपांग एक प्रकार से अंगों के पूरक होने चाहिए। किन्तु अंगों एवं उपांगों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि ऐसी स्थिति नहीं है। उनमें विषय वस्तु के विवेचन, विश्लेषण आदि की परस्पर संगति नहीं है। उदाहरणार्थ आचारांग प्रथम अंग है। औपपातिक प्रथम उपांग है। अंगोपांगात्मक दृष्टि से यह अपेक्षित है कि विषयाकलन, तत्त्व—प्रतिपादन आदि के रूप में उनमें साम्य हो, औपपातिक आचारांग का पूरक हो, किन्तु ऐसा नहीं है। यही स्थिति लगभग प्रत्येक अंग एवं उपांग के बीच है। यों उपांग परिकल्पना में तत्त्वतः वैसा कोई आधार प्राप्त नहीं होता, जिससे इसका सार्थक्य फलित हो।

वेद : अंग—उपांग

तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से विचार किया जाए तो वैदिक परंपरा में भी अंग, उपांग आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वेदों के रहस्य, आशय, तद्गत तत्त्व-दर्शन आदि को सम्यक् स्वायत्त करने, अभिज्ञात करने की दृष्टि से वहाँ अंगों एवं उपांगों का उपपादन है। वेद-पुरुष की कल्पना की गई है। कहा गया है—

''छन्द वेद के पाद—चरण या पैर हैं। कल्प—याज्ञिक विधि—विधानों एवं प्रयोगों के प्रतिपादक ग्रन्थ उनके हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त—व्युत्पत्ति शास्त्र, श्रोत्र—कान हैं, शिक्षा—वैदिक मंत्रों के शुद्ध उच्चारण, उदात्त-अनुदात्त स्वरित के रूप में स्वर प्रयोग, सन्धि-प्रयोग आदि के निरूपक ग्रन्थ घ्राण—नासिका हैं, व्याकरण इनका मुख है। अंग सहित वेदों का अध्ययन करने से अध्येता ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।''[२]

कहने का अभिप्राय यह है कि इन विषयों के सम्यक् अध्ययन के बिना वेदों का अर्थ, रहस्य, आशय अधिगत नहीं हो सकता।

यहाँ यह ज्ञाप्य है कि जैन आगमों और वेदों के सन्दर्भ में प्रयुक्त 'अंग' पद केवल शाब्दिक कलेवर गत साम्य लिये हुए है, तत्त्वतः दोनों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशय भिन्न है। आगमों के साथ संलग्न 'अंग' पद तद्गत विषयों से सम्बद्ध है, जबकि वेदों के साथ संपृक्त 'अंग' पद वेदगत विषयों के प्रकटीकरण, स्पष्टीकरण अथवा विशदीकरण के साधनभूत शास्त्रों का सूचक है।

वेदों के विवेच्य विषयों को विशेष स्पष्ट एवं सुगम करने हेतु अंगों के साथ–साथ उनके उपांगों की भी कल्पना की गई। पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्म शास्त्रों का वेदों के उपांगों के रूप में स्वीकरण हुआ।[3]

उपवेद

वैदिक परम्परा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद–इन चारों वेदों के समकक्ष चार उपवेद भी स्वीकार किये गये हैं। वे क्रमशः (१) आयुर्वेद, (२) धनुर्वेद–आयुध विद्या, (३) गान्धर्व वेद–संगीत शास्त्र एवं (४) अर्थशास्त्र–राजनीति विज्ञान के रूप में हैं।

विषय–साम्य की दृष्टि से वेदों और उपवेदों पर यदि चिन्तन किया जाए तो सामवेद के साथ तो गान्धर्व वेद की यत् किंचित संगति सिद्ध होती है, किन्तु ऋग्वेद के साथ आयुर्वेद, यजुर्वेद के साथ धनुर्वेद तथा अथर्ववेद के साथ अर्थशास्त्र की कोई ऐसी संगति नहीं प्रतीत होती, जिससे इस 'उप' उपसर्ग से गम्यमान सामीप्य सिद्ध हो सके। दूरान्वित सायुज्य स्थापना का प्रयास, जो यत्र तत्र किया जाता रहा है, केवल कष्ट कल्पना है। कल्पना के लिए केवल इतना ही अवकाश है कि आयुर्वेद, धनुर्वेद तथा अर्थशास्त्र का ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के साथ संबंध जोड़ने में महिमांकन मानते हुए ऐसा किया गया हो ताकि वेद संपृक्त समादर एवं श्रद्धा के ये भी कुछ भागी बन सकें।

जैन मनीषियों का भी स्यात् कुछ इसी प्रकार का झुकाव बना हो, जिससे वेदों के साथ उपवेदों की तरह उनको अंगों के साथ उपांगों की परिकल्पना सूझी हो। कल्पना सौष्ठव या सज्जा–वैशिष्ट्य तो इसमें है, पर जैन उपांग आज जिस स्वरूप में उपलब्ध हैं, उनमें विषयगत सामीप्य की अपेक्षा से तथ्यात्मकता कहां तक है, यह सर्वथा स्पष्ट है। हाँ, इतना अवश्य है, स्थविरकृत अंग बाह्यों में से इन बारह को 'उपांग' श्रेणी में ले लिये जाने से औरों की अपेक्षा इनका महत्त्व समझा जाता है। अब लेख के मूल विषय सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति के संबंध में समालोचनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से ऊहापोह किया जाना अपेक्षित है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति

चन्द्रप्रज्ञप्ति छठे उपांग के रूप में स्वीकृत है। इसमें चन्द्र एवं सूर्य के आकार, तेज, गतिक्रम, उदय, अस्त आदि विविध विषयों का विस्तृत वर्णन है। साथ ही साथ अन्य ग्रहों के संबंध में भी आनुषंगिक रूप में विशद विवेचन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह बीस प्राभृतों में विभक्त है। प्राभृत का अर्थ उपहार या भेंट है। प्रशस्तार्थकता के भाव से इसका यहां खण्ड या अध्याय के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

चन्द्र प्रज्ञप्ति का प्रारंभ निम्नांकित अठारह गाथाओं से होता है—

जयइ नव-णलिण–कुवलय–विगसिय–सयवत्थपतल–दलत्थो।
नीरो गयंदमयंगल–सललिय गयविक्कमो भयवं।।1।।
नमिऊण असुर–सुर–गरुल–भुयंग–परिवंदिए गयकिलेसे।
अरिहे सिद्धायरिए उवज्झाए सव्वसाहू णं।।2।।
फुडवियडं पागडत्थं वुत्थं पुव्वसुय-सारणीसंदं।
सुहुमगणिणोवइट्ठ–जोइसगणरायपण्णत्ते।।3।।
णामेण इंदभुइत्ति गोयमो वंदिऊण तिविहेणं।
पुच्छइ जिणवरवसहं, जोइस–गणराय–पण्णत्तिं।।4।।
कइ मंडलाइं वच्चंति, तिरिच्छा किंवा एच्छंति।
ओभासीत, केवइयं सेयाए, किंति संठिति।।5।।
कहिं पडिहया लेसा, कहिं तेउय संठिति।
किं सूरिया चरयंति, कहं ते उदयं संठिति।।6।।
कई कठ पोरसीच्छाया, जो एत्ति किं ते आहिए।
के ते संवच्छराणाइ, कइ संवच्छराई य।।7।।
कहं चंदमसो वुड्ढी, कया ते दोसिणा बहुं।
केई सिग्घगति वुत्ते, किंते दोसिण लक्खणं।।8।।
चयणोववायं उच्चतं, सूरिया कति आहिया।
अणुभावे केरिसे वुत्ते, एवमेताणि वीसति।।9।।
वड्ढोवड्ढी मुहुत्ताणं, अद्धमंडलसंठिइ।
किं ते चिण्णं परिचरंति, अंतरं किं चरंति य।।10।।
उग्गहति केवतियं, केवतियं च विकप्पति।
मंडलाण य संठाणं, विक्खंभ–अट्ठपाहुडा।।11।।
छप्पं च य सत्तेवय, अट्ठय तिन्नि य हवंति पडिवत्ती।
पढमस्स पाहुडस्स, ओहवंति एयाओ पडिवत्ती।।12।।
पडिवत्तीओ उदए, तह अत्थिमणेसु य।
भेयग्घाए कण्णकला, मुहुत्ताण गति तिया।।13।।
निक्खममाणे सिग्घगती, पविसंते मंदगति तीय।
चुलसीय सयं पुरिसाणं, तेसिं च पडिवत्तीओ।।14।।
उदयम्मि अट्ठभणिया, भेयग्घाए दुवेय पडिवत्ती।
चत्तारि मुहुत्तगती, होति वीयंमि पडिवत्ती।।15।।
आवलियमुहुत्तग्गे, एवं भागाय जोगस्स।
कुलाय पुण्णिमासी य, सण्णीवाए य संठिति।।16।।
तारगावण्णेयाय, चंदमग्गति यावरे।
देवाण य अज्झयणा, मुहुत्ताणं णामधेयाइं।।17।।
दिवस–राईयवुत्ता, तिहिं गुत्ता मोयणाणि य।
आइच्च चार मासाय, पंचसंवच्छराति य।।18।।

इन गाथाओं के अन्तर्गत प्रथम गाथा, जो मंगलाचरण रूप है, में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

''जयइ'' (जयति) शब्द द्वारा भगवान् महावीर की सर्वोत्कृष्टता ख्यापित करते हुए उनके प्रति भक्ति प्रकट की गई है।

दूसरी गाथा में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं समग्र साधुओं को वन्दन किया गया है।

तीसरी गाथा में चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र का नाम संकेत किया है। उसे पूर्वश्रुत से सार रूप में उद्धृत बतलाया है।

चौथी गाथा में भगवान् महावीर के प्रमुख अन्तेवासी गणधर इन्द्रभूति गौतम द्वारा भगवान महावीर के समक्ष जिज्ञासु भाव से पृच्छा की गई है, जिसके समाधान में भगवान द्वारा प्रस्तुत आगमगत समस्त विषयों के विवेचन किये जाने का संकेत है।

यहाँ ''पुच्छइ जोइसगणराय पण्णत्तिं'' वाक्य में ''जोइसगणराय'' पद चन्द्र का बोधक है। पन्नत्ति प्रज्ञप्ति का प्राकृत रूप है। इसका आशय यह है कि चन्द्रप्रज्ञप्ति के विषय में गौतम भगवान् से प्रश्न करते हैं।

इन गाथाओं के पश्चात् निम्नांकित रूप में प्रस्तुत आगम का प्रारंभ होता है—

''तेणं कालेणं तेणं समएणं मिहिलाए णामं णयरीए होत्था, वण्णओ। तीसे णं मिहिलाए णामं णयरीए बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए एत्थणं मणिभद्दं नामं चेईए होत्था, चिराइए—वण्णओ। तीसे णं मिहिलाए णयरीए जियसत्तू नामं राया, धारिणिदेवी, वण्णओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया।।''

अन्यान्य आगमों की शैली में यहाँ मिथिला नगरी, मणिभद्र चैत्त्य, जितशत्रु राजा, धारिणी रानी आदि का तथा भगवान महावीर के वहां पदार्पण का एवं भगवान द्वारा धर्म परिषद् को संबोधित करने का संकेत है।

आगे भगवान महावीर के प्रमुख गणधर इन्द्रभूति गौतम द्वारा किये गये प्रश्न और भ. महावीर द्वारा किये गये समाधान का आख्यान है। यह पहले से बीसवें प्राभृत तक चलता है।

बीसवें प्राभृत के अन्त में छः गाथाओं के साथ प्रस्तुत आगम का परिसमापन होता है। गाथाएँ निम्नांकित हैं—

''इति एस पागडच्छा, अभव्वजण हियय दुल्लहा होइ णमो।
उक्कतिया भगवती, जोतिस्स रायस्स पण्णत्ति।।1।।
एस गहिय विसतीथद्धे, गारवियमाणीपडिणीए।
अबहुस्सुए न देया, तव्वीवरिए भवे देवा।।2।।
सद्धाधिइ उट्ठाणुच्छाह कम्मबलवीरिएपुरिसक्कारेहिं।
जो सिक्खि उवसंतो, अभायणे पक्खिवेज्जाहि।।3।।
सो पवयण कुल-गण-संघ-बहिरो, नाण-विणय-परिहीणो।
अरिहं थेर गणहर मइ किर होंति वालिणो।।4।।
तम्हो धिति उट्ठाणुच्छाह—कम्मबलवीरियसिक्खियनाणं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारेयव्वं णियमा, ण य अविणीएसु दायव्वं ।।5।।
वीरवरस्स भगवओ, जर-मर–किलेस दोसरहियस्स।
वंदामि विणयपण्णत्तो, सोक्खं पाइ संपाए।।6।।

पहली पांच गाथाओं में इस आगम के अध्ययन के लिए योग्य, अयोग्य पात्रों की चर्चा की गई है। कहा गया है कि चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र अत्यन्त गूढ अर्थ युक्त है। अभव्य, अयोग्य जनों के लिए यह दुर्लभ है। जिन्हें जाति, कुल आदि का मद हो, जो सत् सिद्धान्तों के प्रत्यनीक विरोधी हों, जो बहुश्रुत नहीं, जो गुरु मुख के बिना स्वयं पढ़ लेते हों, बाह्य ऋद्धियाँ प्राप्त कर लेते हों, फलस्वरूप जो नरक आदि गतियां प्राप्त करने वाले हों, ऐसे जनों को इसका ज्ञान नहीं देना चाहिए। ऐसे अनधिकारी, अपात्र जनों को जो साधु इसका ज्ञान देता है, वह प्रवचन, कुल, गण एवं संघ से बहिर्भूत होता है।

जो जिन प्रवचन में श्रद्धाशील हों, सम्यक्त्वी हों, धृति, उत्थान, उत्साह, कर्म, बल एवं वीर्य—आत्मपराक्रम युक्त होते हुए ज्ञान ग्रहण करते हों, वे ही इसके अध्ययन के लिए योग्य पात्र हैं।

छठी गाथा में जरा, मरण, क्लेश, दोषादि वर्जन तथा निराबाध, शाश्वत मोक्ष-सुखाधिगम मूलक विशेषताओं का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर को वन्दन किया गया है।

अन्त में "इति चंदपण्णत्तीए वीसमं पाहुडं सम्मत्तं" अर्थात् चन्द्रप्रज्ञप्ति का का बीसवाँ प्राभृत समाप्त हुआ। इस वाक्य के साथ इस आगम का समापन होता है।

यह चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र के कलेवर का विवेचन है। जिसे यहां उपस्थापित करने का एक विशेष प्रयोजन है, जो इस लेख में आगे—सूर्यप्रज्ञप्ति के विश्लेषण में स्वतः स्पष्ट हो जायेगा।

सूर्य प्रज्ञप्ति

सूर्यप्रज्ञप्ति सातवें उपांग के रूप में स्वीकृत है। सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति के संबंध में एक बहुत बड़ी समस्या है, जिसका विद्वज्जगत् में अब तक समाधान हो नहीं पाया है। वर्तमान में सूर्यप्रज्ञप्ति के नाम से जो आगम उपलब्ध है, उसका समग्र पाठ चन्द्रप्रज्ञप्ति के सदृश है।

सबसे पहले सन् १९२० में परम पूज्य स्व. श्री अमोलकऋषि जी म. सा. द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद के साथ सिकन्द्राबाद में बत्तीसों आगमों का प्रकाशन हुआ। वहाँ सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति दोनों आगम दो अलग—अलग पुस्तकों के रूप में छपे हैं। विषयानुक्रम एवं पाठ दोनों के एक समान हैं।

जब एक ही पाठ हैं तो फिर इन्हें दो आगमों के रूप में क्यों माना जाता रहा है। इस संबंध में अब तक कोई ठोस आधार प्राप्त हो नहीं सका है।

दोनों के संदर्भ में यहां कुछ विश्लेषण करना अपेक्षित है। चन्द्रप्रज्ञप्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रारंभ में जो अठारह गाथाएँ आई हैं, सूर्यप्रज्ञप्ति में वे नहीं हैं। वहाँ ''तेणं कालेणं तेणं समएणं मिहिलाए णामं णयरीए होत्था'' इत्यादि ठीक उन्हीं वाक्यों के साथ पाठ प्रारंभ होता है और अन्त तक अविकल रूप में वैसा ही पाठ चलता है, जैसा चन्द्रप्रज्ञप्ति में है।

इसके प्रथम प्राभृत के अन्तर्गत आठ अन्तर प्राभृत हैं। पहले अन्तर प्राभृत की समाप्ति पर ''सूरियपण्णत्तीए पढमं पाहुडं सम्मत्तं'' ऐसा उल्लेख है। दूसरे अन्तर प्राभृत के अन्त में 'सूरिय पण्णत्तिस्स पढमस्य बीयं पाहुडं समत्तं'' पाठ है। आगे इसी प्रकार आठवें अन्तर प्राभृत तक उल्लेख है। पहले अन्तर प्राभृत में 'सूरियपण्णात्ति' के षष्ठी विभक्ति के रूप में 'सूरियपण्णत्तीए' आया है, जबकि दूसरे से आठवें अन्तर प्राभृत तक ''सूरियपण्णत्तिस्स'' का प्रयोग हुआ है।

तीसरे, चौथे और पांचवे प्राभृत के अंत में 'ततियं' 'चउत्थं' एवं 'पंचमं' पाहुडं समत्तं—ऐसा उल्लेख है।

बड़ा आश्चर्य है, छठे प्राभृत के अंत में ''चंदपण्णत्तिस्स छट्ठं पाहुडं सम्मत्तं'' तथा सातवें प्राभृत के अन्त में ''चंदपण्णत्तीए सत्तमं पाहुडं सम्मत्तं'' ऐसा उल्लेख है।

आठवें और नौवें प्राभृत के अन्त में सूर्य प्रज्ञप्ति का नामोल्लेख है।

दसवें से उन्नीसवें प्राभृत तक केवल पाहुड़ों की संख्या का सूचन किया गया है।

बीसवें प्राभृत के अन्त में वही छः गाथाएँ सूर्यप्रज्ञप्ति में हैं, जो चन्द्रप्रज्ञप्ति में हैं।

आगम सूर्यप्रज्ञप्ति के नाम से चल रहा है और इन गाथाओं के पश्चात् ''इति चंदपण्णत्तीए वीसमं पाहुडं सम्मत्तं'' ऐसा लिखा है।

उपर्युक्त विवेचन से जो विसगतियाँ प्रकट होती हैं, उन पर विचार करना अपेक्षित है।

तथ्यात्मक गवेषणोपक्रम

प्राकृत मेरे अध्ययन का मुख्य विषय रहा है। देश के सर्वाग्रणी प्राकृत— विद्वान्, षट्खण्डागम के यशस्वी संपादक, नागपुर एवं जबलपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत, प्राकृत एवं पालि विभाग के अध्यक्ष, तत्पश्चात् प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वैशाली के निदेशक डॉ. एच. एल. जैन से मुझे अनवरत दो वर्ष पर्यन्त प्राकृत पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कोल्हापुर विश्वविद्यालय एवं मैसूर विश्वविद्यालय के प्राकृत जैनोलोजी विभाग के अध्यक्ष, प्राकृत के महान् विद्वान डॉ. ए.एन. उपाध्ये के संपर्क में रहने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ, वैशाली में मैं प्रोफेसर भी रहा। आगे सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर दलसुखभाई मालवणिया आदि का साहचर्य मुझे प्राप्त होता रहा। प्राकृत से संबद्ध विविधविषयों, विवादास्पद पक्षों पर चर्चाएँ होती रहती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति का विवादास्पद प्रसंग भी उनमें था। देश के अनेक अन्य जैन विद्वानों, मुनियों एवं आचार्यों के समक्ष भी मैंने सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति से जुड़ी समस्या उपस्थापित की, किन्तु अद्यावधि वह समाहित नहीं हो पाई।

इस संबंध में यहां एक प्रसंग का और उल्लेख करना चाहूंगा। विक्रम संवत् २०३१, सरदारशहर (राज.) में, जो मेरा जन्म स्थान है, साधुमार्गी जैन संघ के अधिनायक स्वनाम धन्य, विद्वन्मूर्धन्य अष्टम आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. का चातुर्मासिक प्रवास था। तब समय.समय पर उनके सम्पर्क में आने तथा अनेक तात्त्विक एवं आगमिक विषयों पर चर्चा—वार्ता, विचार—विमर्श करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त होता रहा था। मैंने आचार्यप्रवर के समक्ष सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति विषयक प्रश्न भी रखा, जब दोनों के पाठ सर्वथा ऐक्य लिये हुए हैं, फिर इन्हें दो आगम स्वीकार करने की मान्यता कैसे स्थापित हुई?

आचार्यप्रवर का संभवतः चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र के अन्त में आई हुई छः गाथाओं में से, जो वर्तमान में उपलब्ध सूर्यप्रज्ञप्ति में यथावत् रूप में हैं, उस गाथा की ओर ध्यान रहा हो, जिसमें यह कहा गया है कि यह आगम अति गूढार्थ लिये हुए है, किसी अयोग्य अनधिकारी व्यक्ति को इसका ज्ञान नहीं दिया जाना चाहिए, इसीलिए आचार्यप्रवर ने इस संदर्भ में एक संभावना का प्रतिपादन किया। उन्होंने फरमाया– दोनों आगमों की शब्दावली एक होते हुए भी शब्दों की विविधार्थकता के कारण दोनों के अर्थ भिन्न रहे हों। गूढता के कारण रहस्यभूत भिन्न अर्थ किन्हीं बहुश्रुत, मर्मज्ञ आचार्यों या विद्यानिष्णात मुनियों को ही परिज्ञात रहे हों। गूढार्थकता, रहस्यात्मकता के कारण वे विज्ञ मनीषी ही किन्हीं योग्य पात्रों को इनका अर्थ बोध देते रहे हों, आगे चलकर साधारण पाठकों, अध्येताओं के ज्ञान की सीमा से दूरवर्ती होने से पाठ—सादृश्य के कारण लोगों में इनके एक होने की शंका बनी हो।

उक्त आधार पर दोनों को दो भिन्न-भिन्न आगमों के रूप में माना जाना संभावित है। यह एक मननीय चिन्तन है।

यहां एक बात और विचारणीय है, शब्दों के अर्थ वैविध्य के सूचक अनेकानेक कोश—ग्रन्थ विद्यमान हैं, जो शब्दों के सामान्य, असामान्य—गूढ़, दोनों ही प्रकार के अर्थों का बोध कराते हैं, किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति विषयक उन गूढ अर्थों को, जिन्हें तज्ज्ञ विशिष्ट विद्वान ही ज्ञापित कर पाते थे, अवगत करने में आज नैराश्य आच्छन्न है।

एक संभाव्य संयोग

प्रस्तुत विषय पर मेरा विचार मन्थन चलता रहा। मैं समझता हूँ सूर्य- प्रज्ञप्ति निःसन्देह एक पृथक् स्वतन्त्र आगम रहा हो। यदि वैसा नहीं होता तो सप्तम उपांग के रूप में वह क्यों गृहीत होता। जैसा पहले कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया, संभवतः काल-क्रम से वह लुप्त हो गया हो। लुप्त हो जाने के पश्चात् ऐसा घटित हुआ हो— हस्तलिखित पांडुलिपियों का कोई विशाल ग्रन्थ भंडार रहा हो, जैन आगम, शास्त्र एवं अनेकानेक विषयों के ग्रन्थ उसमें संगृहीत हों, ग्रन्थपाल या पुस्तकाध्यक्ष कभी आगमों का पर्यवेक्षण कर रहा हो, उन्हें यथावत् रूप में व्यवस्थित कर रहा हो। जैसा कि आम तौर पर होता है, वह सामान्य पढ़ा लिखा हो, आगमों के अंग, उपांग, भेद, प्रभेद, इत्यादि के विषय में कोई विशेष जानकारी उसे न रही हो। अंगों के अनन्तर उपांगों की देखभाल करते समय यथाक्रम छठा उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र उसके हाथ में आया हो, इस सूत्र की वहाँ दो प्रतियाँ रही हों, पहली प्रति नामयुक्त मुखपृष्ठ, मंगलाचरण आदि सहित हो, उसी आगम की दूसरी प्रति में मुख पृष्ठ एवं मंगलाचरण तथा विषयसूचक अठारह गाथाओं वाला पृष्ठ विद्यमान न रहा हो। उस प्रति के पश्चात् सीधे उसके हाथ में आठवें उपांग निरयावलिका की प्रति आई हो, चन्द्रप्रज्ञप्ति की दूसरी प्रति को, जिसमें मुखपृष्ठ और प्रारंभ का मंगलाचरण आदिवाला पृष्ठ न होकर सीधा पाठ का प्रारंभ हो, आगमों के कलेवर, विषय—वस्तु आदि का परिचय न होने से ग्रन्थपाल ने सातवाँ उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति समझ लिया हो और उस प्रति के ऊपर दूसरा कागज लगाकर उस पर सूर्यप्रज्ञप्ति नाम लिख दिया हो, क्योंकि शायद उसने समझा हो कि जब उपांग बारह हैं, उसी क्रम में उनमें यह बिना नाम की प्रति है तो छठे और आठवें उपांग के बीच यह सातवां उपांग ही होना चाहिए। अज्ञता के कारण इस प्रकार की भूल होना असंभव नहीं है।

आगे चलकर उसी प्रति को आदर्श मानकर उसकी प्रतिलिपियाँ होती रही हों, क्रमशः यह भावना संस्कारगत होती रही हो कि यही सातवाँ उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र है।

जब उत्तरवर्ती काल में विद्वानों का ध्यान पाठ की ओर गया हो, तब संभव है, उनके मन में ऐसी शंका उठी हो कि एक ही पाठ और नाम से दो पृथक् पृथक् आगम, यह कैसे? किन्तु जो परंपरा चल पड़ी, बद्धमूल हो गई, उसे नकारना उनके लिए कठिन हुआ हो, फलतः उसे ज्यों का त्यों चलने दिया जाता रहा हो।

किसी तज्ञ पुरुष द्वारा चन्द्रप्रज्ञप्ति की इस दूसरी प्रति पर सातवें उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति के रूप में संगत बनाने हेतु कतिपय पाहुड़ों की समाप्ति पर चन्द्रप्रज्ञप्ति के बदले सूर्यप्रज्ञप्ति शब्द का उल्लेख कर दिया गया हो। संगति बिठाने का यह कल्पनाप्रसूत क्रम जैसा पूर्वकृत विवेचन से स्पष्ट है, सभी पाहुड़ों के अंत में नहीं चलता, जिससे विसंगति और अधिक वृद्धिगत हो जाती है।

अस्तु—साररूप में यही कथनीय है कि सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति की विवादास्पदता का समाधान अब तक तो यथार्थतः प्राप्त हो नहीं सका है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पनोपक्रम ही गतिशील रहे हैं, जिनका प्रामाण्य सन्दिग्धता से परे नहीं होता।

प्राकृत विद्या एवं आर्हत-श्रुत क्षेत्र के प्रबुद्ध, उत्साही, अन्तःस्पर्शी प्रज्ञा के धनी मनीषी प्राचीन एवं अर्वाचीन वाङ्मय के आलोक में समाधान खोजने का अविश्रान्त प्रयास करें, यह वांछित है। महाकवि भवभूति के शब्दों में–

"संपत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधि र्विपुला च पृथ्वी।।"[४]

समाधान प्राप्त करने की दिशा में सदा आशावान रहना ही चाहिए।

संदर्भ

१. इह पुरुषस्य द्वादश अंगानि भवन्ति, तद्यथा–
द्वौ पादौ, द्वे जंघे, द्वे अरुणी, द्वे गात्रार्द्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा, शिरश्च। एवं श्रुतपुरुषस्यापि परमपुरुषस्याचारादीनि द्वादशांगानि क्रमेण वेदितव्यानि तथा चोक्तम्–
पायदुगं जंघोरू, गायदुगद्धं तु दोय बाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो, बारस अंगेसु य पविट्ठो।।
श्रुतपुरुषस्यांगेषु प्रविष्ट्म्–अंगप्रविष्टम्।
अंगभावेन व्यवस्थिते श्रुतभेद.........।। –अभिधान राजेन्द्र कोष भाग १, पृष्ठ ३८

२. छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते।।– पाणिनीय शिक्षा, ४१–४२

३. पुराण–न्याय–मीमांसा–धर्मशास्त्रांग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां, धर्मस्य च चतुर्दश।।– याज्ञवल्क्य, स्मृति १.३

४. उत्तररामचरितम्, प्रस्तावना

–शारदा पुस्तक मन्दिर,, सरदारशहर–331403, जिला– चुरू(राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org